रत्नावली

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

H
811.42
G 959 R

H
811.42
G959R

रत्नावली

Maithilisharan Gupta

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

Sahitya Sadan
Jhansi

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

CATALOGUED

प्रथमावृत्ति

२०१७ ।

Library IIAS, Shimla
H 811.42 G 959 R
00046622

46622
5-2-74

811.-12
G 959 R

मूल्य

मूल्य २०.०।

श्री सुमित्रानन्दन गुप्त द्वारा
साहित्य-मुद्रण, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित
तथा साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) द्वारा प्रकाशित ।

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

को

सस्नेह

मिले सन्त के अनुप्रास-से
तुम हमको प्रिय पन्त,
भोगो अपनी पुण्यभूमि के
शत शत शरद् वसन्त।

मैथिलीशरण

श्रीराम

निवेदन

बहुत दिनों से रत्नावली पर भी कुछ लिखने की मेरी इच्छा थी। माघ २०११ में मैंने उसका आरम्भ भी कर दिया था। परन्तु काम चला नहीं। अस्वस्थता के कारण एक वार रुका सो रुका। बीच में 'विष्णुप्रिया' भी लिख गई। परन्तु यह वैसी की वैसी रही आई।

यद्यपि मनुष्य का काम कभी पूरा नहीं होता और ऐसी रचना पूरी होकर भी पूरी नहीं होती। तथापि इसका सर्वथा अधूरा रह जाना खटक रहा था। इस वार किसी प्रकार इसे एक रूप दे सका, इसका मैं सन्तोष मानता हूँ।

इधर रत्नावली के व्यक्तित्व क्या, अस्तित्व पर भी लोग शंकाएँ कर रहे हैं। परन्तु इसकी कल्पना भी मेरे लिए, सत्य से न्यून नहीं।

रहा रत्नावली का व्यक्तित्व, सो वह ठीक उतरा है वा नहीं, इसे पाठक ही जानें। मैं यही जानता हूँ, जिसके कारण हिन्दी को तुलसीदास की प्राप्ति हुई है, उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करके मैंने एक कर्त्तव्य ही किया है और आशा है, इस कार्य में बहुसंख्यक जनता मेरे साथ होगी।

चिरगाँव
सावनतीज २०१७

मैथिलीशरण

यह कृति, जिसे जरा से कम्पित
कर ने किसी प्रकार लिखा,
बढ़ती-सी लगती है मुझको
'निज कवित्व' की दीप-शिखा।
स्नेह सहृदयों का यदि पावे,
तो यह भले और टिक जावे।
आगे के तम में प्रभु मेरे!
जो चाहे सो मुझे दिखा।

श्रीगणेशाय नमः

रत्नावली

अवतरणिका

आप उपार्जित ताप भले इस
मरु-जीवन में व्याप्त हो,
यही विनय है राम, तुम्हारी
छाया प्रिय को प्राप्त हो।
मेरा विकल विलाप मृत्यु तक
हो चाहे न समाप्त हो,
पर जो उनके मुख से निकले
वह यथार्थ हो, आप्त हो।

सखि, मेरी भर्त्सना करें सब,
कहें मुझे अघमाघमा,
किन्तु आप अपने को अब भी
करूँ न मैं कैसे क्षमा।
अपने किये हुए पर अब भी
क्यों कर पछताऊँ भला,
किन्तु विभूति बनेगा उनकी
क्या यह जन्म जला-जला ?

मैं जैसी होऊँ, पर मेरा
अति उदार परिवार था,
माता पिता तथा स्वजनों का
पाया मैंने प्यार था।
पुत्री मूर्तिमती चिन्ता - सी
होती है प्रति गेह की,
पर मैं पुतली थी माता के
और पिता के स्नेह की।

माता भक्ति - मूर्त्ति थी मेरी
पिता ज्ञान के रूप थे,
दोनों ही निष्काम कर्म से
अपने भव के भूप थे।
कुछ कुछ अक्षर-बोध सहज ही
मैं भी उनसे पा गई,
रामकथा पढ़ माँ के मत से
कुश-लव जैसी गा गई।

मिल सकता है यहाँ जिसे जो
सो सब कुछ मुझको मिला,
पर यह रसना-फणिनी पाली
माँ ने दूध पिला - पिला !
डँसा अनादर-विष से जिसने
अपने जीवन-नाथ को,
झटक दिया हा ! मैंने उनके
उस अपनाते हाथ को।

फिर भी मैंने किया उन्हींके
लिए नहीं क्या, जो किया ?
अपने हाथों आप अचानक
अपना सब कुछ खो दिया ।
उन-सा दक्षिण कहाँ, किन्तु मैं
फिर भी वामा हो उठी ,
उनका-सा भावुक पाकर भी
सहसा भामा हो उठी ।

"करते हो जो प्यार हाय ! इस
चार दिनों के चाम को ,
जन्म सफल कर कोई उससे
पा सकता है राम को ।
धिक् है मुझे और तुमको भी !"
हाँ, यह मैंने था कहा ,
यह यथार्थ है, मुझे स्वार्थ का
कुछ भी बोध नहीं रहा ।

पहले जो मुझपर जलती थीं
पति के अति अनुराग से,
वही दोष देती हैं मुझको
अब उनके इस त्याग से।
कह सखि, कैसे जीना सम्भव
है ऐसे अपवाद में ?
रोना औरों के प्रसाद में,
हँसना हाय ! विषाद में।

मैं गृह-कार्य-भार मानो लघु-
वय में ही थी ले चुकी,
उद्धत थी, इस कारण उससे
न मैं रुकी न कभी झुकी।
मेरे ग्रीवा-गुंजन में वह
डूब कहाँ बहता गया,
केवल दिन का पढ़ा पाठ ही
इस घट में रहता गया।

आती थी जब गाय साँझ को
करती हम्बा-नाद थी,
अम्बा कह उसका स्वागत कर
पाती मैं आह्लाद थी।
कालिदास की चतुःसमुद्रा
पयोधरा वह गो-धरा,
लगती मुझे लोक धात्री थी,
जिससे ओक हरा-भरा।

बाँध उसे सहलाकर उस दिन
लिपट गई मैं प्यार से,
उसने भी मेरा सिर सूँघा
निज नथनों की ब्यार से।
मानो मैं भी वत्सतरी हूँ,
पसवाई वह वत्सला,
आर्द्र अँगुलियों को तब मैंने
अपने पलकों पर मला।

कूद रही थी बँधी पास ही
बाँ-बाँ कर बछिया भली
मेरी थपकी से उसमें भी
प्रकट हुई पुलकावली।
तनिक ठहर, तेरे पीछे ही
लूँगी पय का स्वाद मैं,
इतना कहकर बाहर आई
पाकर मनःप्रसाद मैं।

संध्या थी हेमन्तकाल की,
धुँधलापन सब ओर था,
शान्त हो रहा धीरे-धीरे
विहगों का भी रोर था।
धूम और गोधूलि-सम्मिलन
कुछ-कुछ पवनाधूत था,
खेल रहा घर-घर के सिर पर
मानो कोई भूत था!

कौतूहल से उसे देख हँस
दीप सँजोने मैं चली,
परिचित पद-रव लाई सहसा
घर के आगे की गली।
बाहर गये पिता पन्द्रह दिन
पीछे सकुशल आगये,
जिनकी चिन्ता में थे हम सब,
उन्हें हर्षयुत पा गये!

पैर न धरती थी धरती पर
मैं अपने आह्लाद में,
श्यामा ने भी दूध अधिक कुछ
उस दिन दिया प्रसाद में।
खीर बनाकर भोजनार्थ मैं
चली बुलाने चाव से,
सुना पिता को माँ से कहते
हुए सुनिश्चित भाव से।

"परित्यक्त कर दिया गया जो,
मूर्त अमंगल - सा अभी,
उसको अपनाने का आग्रह
जाय न विग्रह तक कभी।
देख जन्म - नक्षत्र मात्र ही
लोग विमुख उससे हुए,
पर उसका कर ! चिन्तामणि हो
पारस भी उसके छुए।"

देखा मैंने, मुझे आप ही
रोम - हर्ष - सा हो रहा,
"तो हमको क्या और चाहिए ?"
अम्बा ने उनसे कहा।
"हम ब्राह्मण, निर्वाह मात्र के
लिए हमें धन चाहिए,
जिसके जीवन में सात्विकता
हो, ऐसा जन चाहिए।"

"कहीं कामिनी, कहीं भामिनी,
कहीं मात्र है स्वामिनी,
मन के साथ बुद्धि से भी तुम
हो मेरी सहगामिनी।"
माता और पिता ने मन भर
जब निज निश्चय कर लिया,
तब उनकी इस कन्या ने भी
अनदेखा वर वर लिया।

इस प्रकार मैं हुई समर्पित
अपने जीवननाथ को,
रख सकती थी किन्तु कहाँ तक
पकड़ हाय! उस हाथ को।
करना कोई महत् कार्य था
उसे एक दिन अन्त में,
फैले जिससे पुण्य और यश
उनका देश – दिगन्त में।

वंचित होकर आज अचानक
मैं अपने वर-वित्त से,
देख रही हूँ उसी कार्य का
पथ निज विचलित चित्त से।
राम-कृपा से मेरी आशा
सखि, यदि पूरी हो गई,
तो मैं लाभ सहित पा लूंगी
जो मेरी निधि खो गई।

× × ×

मैं अपनी चिन्ता करूं, छोड़ूं उनका ध्यान,
नहीं चाहिए सखि, मुझे ऐसा आत्मज्ञान।

१

छोड़ गये प्रिय यह लघु वास ,
तो वे विश्वकुटुम्बी होंगे करके आत्म - विकास ।

रखते मेरे तात न उनकी उन्नति का विश्वास ,
तो उनसे मेरे परिणय का क्यों करते आयास ?

पर संभवतः मिला न इसका उनको भी आभास ,
होगा क्षणिक मात्र उनके-से जन का भोग विलास ।

सह लेती मैं भी सुख पूर्वक यह वियोग का त्रास ,
देख नहीं, सुन ही पाती यदि उनका योगाभ्यास ।

२

तुम्हारे रक्षक हों वे राम,
जिनके लिए खेल ही-सा था लंका का संग्राम।

कृपा करें तुमपर पहले ही,
पूज्य पवननन्दन पविदेही।
शरण उन्हींकी लो यदि सचमुच छोड़ गये निज धाम।
तुम्हारे रक्षक हों वे राम।

३

करती न मैं स्वार्थ वश वारण,
त्याग भरा शुभ कार्य तुम्हारा, पर कैसा है कारण ?

हुए विरक्त न भक्ति जगाकर,
गये मुझे अपराध लगाकर।
मैं अबला थी, भूली भी तो उचित न था यह मारण।
करती न मैं स्वार्थ वश वारण।

फिर भी इष्ट तुम्हारी जय है,
विश्वम्भर से यही विनय है,
मंगलमय हो मार्ग तुम्हारा, तुम्हीं हमारे तारण।
करती न मैं स्वार्थ वश वारण।

४

त्यागा नर ने ही नारी को।
मैं इसका उलटा कर बैठी,
धिक् है मुझ मति-हारी को।

नर ने क्या अतिचार किया था?
आँख मूँदकर प्यार दिया था।

किन्तु भुलाकर ही रक्खे क्या
नारी निज करधारी को?
त्यागा नर ने ही नारी को।

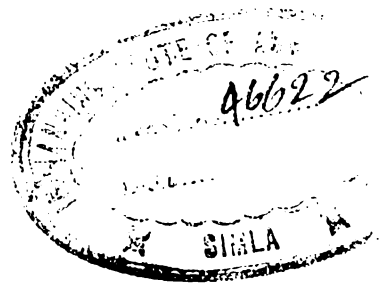

५

नाथ, क्या सुनते हो यह घोष ?
आ आकर घर-घर की वधुएँ मुझे दे रहीं दोष,
हो तो क्षमा करो तुम अब तो मुझपर अपना रोष,
पर निज-पर, किसपर, मैं दीना करूँ आज आक्रोश ?

६

बस एक वार आ जाओ,
देकर क्षमा और नव दर्शन स्वस्थ विसर्जन पाओ।

यदि आसक्ति नहीं अवशेष,
तो है तुम्हें उचित अद्वेष।
त्यागो भी क्यों तुम यों जन को नाथ, न यदि अपनाओ।
बस एक वार आ जाओ।

७

तुमने मेरे लिए न जानें झेले कितने ताने,
लौट लौटकर आते थे तुम करके लाख बहाने।
सह न सके मेरा ही कहना,
दूँ अब कैसे और उलहना।
सिर माथे यह दंड तुम्हारा, मन यदि अब भी माने।
तुमने मेरे लिए न जानें झेले कितने ताने।

८

जो तुम्हारे प्यार में कल तक पली ,
कंकरी भी आज क्या रत्नावली ?

फूलकर कुम्हला चली मेरी कली ,
लौटकर फिर तुम न आये हे अली !
किन्तु किस मुहँ से कहूँ तुमको छली ?
सिर हिलाती रह गई मैं मुहंजली ।

मृत्यु भी इस यातना से है भली ,
कंकरी भी आज क्या रत्नावली ।

७

तुमने मेरे लिए न जानें झेले कितने ताने,
लौट लौटकर आते थे तुम करके लाख बहाने।
सह न सके मेरा ही कहना,
दूँ अब कैसे और उलहना।
सिर माथे यह दंड तुम्हारा, मन यदि अब भी माने।
तुमने मेरे लिए न जानें झेले कितने ताने।

८

जो तुम्हारे प्यार में कल तक पली ,
कंकरी भी आज क्या रत्नावली ?

फूलकर कुम्हला चली मेरी कली ,
लौटकर फिर तुम न आये हे अली !
किन्तु किस मुहँ से कहूँ तुमको छली ?
सिर हिलाती रह गई मैं मुहंजली ।

मृत्यु भी इस यातना से है भली ,
कंकरी भी आज क्या रत्नावली ।

९

यह तनु अब कैसे सहे,
जिसे तुमने रह-रह सहलाया,
यह मन जीवन-धन, वही
जिसे तुमने बहु विध बहलाया।

फिर तुमने सुध भी न ली
न तो कुछ कहा न कुछ कहलाया,
सूखी भीतर सब सृष्टि
दृष्टि ने बाहर क्या नहलाया।

१०

अब न भरेगा जीवन-कोष ,
वही हुआ जो कर बैठी मैं, दूँ अब किसको दोष ?
लाख असन्तोषों में फिर भी एक बड़ा सन्तोष ,
नहीं अन्य पर, अपने पर ही कर सकती हूँ रोष ।

११

शालग्रामवल्लभे, बिलसे तेरी ललित लता,
किन्तु कहाँ वे मेरे स्वामी, तेरे दास, बता ?

मैं दासी किस भाँति पुकारूँ,
तू पुकार, मैं जीवन वारूँ।

घर-घर में तेरी पूजा है, तुझको सभी पता,
शालग्रामवल्लभे, बिलसे तेरी ललित लता।

१२

मैं मरती जीती कान्त, शान्ति पा जाती,
तुम हुए राम-रत, कहीं यही सुन पाती।

क्षण-क्षण आती है स्मरण तुम्हारी ममता,
उसको रखने की रख न सकी मैं क्षमता।
हा! इसीलिए यह ज्वलित वियोग विषमता,
वह योग कहाँ अब? रही नहीं जब समता।
पर आज बहुत क्या एक तुम्हारी पाती?
तुम हुए राम-रत, कहीं यही सुन पाती।

सचमुच मेरा वह कथन रहा कटु थोड़ा,
समुचित ही तुमने अरुचि मान मुहँ मोड़ा।
पर उसमें था जो सत्य उसे भी छोड़ा,
तो तुमने खोकर मुझे कहो क्या जोड़ा?
काँपा करती है यही सोच यह छाती,
तुम हुए राम-रत, कहीं यही सुन पाती।

तुम स्वयं समर्पित, यही अन्त में आशा,
आशा, रहने दे मग्न किसे घटपाशा ?
सुन सकूँ तुम्हारी वर्तमान की भाषा,
तो भर पाऊँ निज अर्थमयी अभिलाषा।
मेरी क्या, सबकी बने वही थिर थाती,
तुम हुए राम-रत, कहीं यही सुन पाती।

तुम एक वार भी नहीं लौट कर हेरे,
दे गये चुनौती यहाँ क्षोभ को मेरे।
मैं कैसे अस्वीकार करूँ मुहँ फेरे ?
पर यह तो जानूँ, कहाँ तुम्हारे डेरे।
बुझ जाती, पाती स्नेह न यदि यह बाती,
तुम हुए राम-रत, कहीं यही सुन पाती।

१३

प्रियतम तुम किस वन के वासी ?
मैं केवल दर्शन की प्यासी।

पानी पाकर प्रेत भी करते हैं कल्याण,
पर दे सकती हूँ भला मैं अब क्या प्रतिदान ?

अपना क्या रखती है दासी ?
मैं केवल दर्शन की प्यासी।

कहते हैं, रस से मरे तो विष का क्या काम,
करो हर्ष-विह्वल मुझे, पाऊँ चिर विश्राम।

ओ मेरे आशी - विश्वासी !
मैं केवल दर्शन की प्यासी।

१४

और कब तक बाट हेरूँ ?
कंठ रुँधता है, तुम्हें किस भाँति मैं हे नाथ टेरूँ ?

छोड़ भी देती तुम्हारी और अपनी लोकलज्जा ,
सहज ही भीतर धँसी थी भेदकर जो अस्थि-मज्जा ,
किन्तु सहती क्या तुम्हारी आत्म-उन्नति की असज्जा ?

आप उससे आज भी मैं अवश कैसे पीठ फेरूँ ?
और कब तक बाट हेरूँ ?

१५

आदि काव्य में मिला आज फिर वही रंग में भंग,
राम न प्रस्तुत थे सीता को ले जाने को संग।

वे क्या वन के डर से डोलीं,
व्यंग्यभाव से प्रभु से बोलीं।

पुरुष रूप में स्त्री हो क्या तुम बाँधे धनुष-निषंग?
आदि काव्य में मिला आज फिर वही रंग में भंग।

प्रियतम मेरी उक्ति अपटु थी,
फिर भी क्या वह केवल कटु थी।

और क्या कहूँ, सिहर उठे हैं मेरे आकुल अंग।
आदि काव्य में मिला आज फिर वही रंग में भंग।

१६

सायं प्रात रात दिन दुपहर, कैसे तुम्हें तरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं ?
लपट, समा मेरी साँसों में, रज, रम जा बालों में ,
अरी विरसते, विलस बैठकर इन गीले गालों में।
तृषा, तैर मेरे मानस में, कर्दम है तालों में ,
रवि-कर, रोम-रोम अर्पित है, ले लो निज जालों में।
पर तप, तेरे अर्घ्य-हेतु क्या कोरा स्वेद झरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं ?
कर दो मग्न धरातल मेरा वर्षा रानी, बरसो ,
घन तम में पथ देख सकूँ मैं, दमको दामनि, दरसो।
कर दो हरा-भरा मुझको भो अयि हरीतिमे, सरसो ,
चिरजीवी हो मेरे चातक, रह-रह प्रिय-मन परसो ।
प्रकृति, तुम्हारे उपकारों का कैसे मूल्य भरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं ?

शरद्, विजय की यात्रा का यह शुभ हो नया सबेरा,
खग खंजन आ गये लौटकर, कहाँ विहंगम मेरा ?
जल-थल-नभ सुप्रभ सब चम-चम, यह घर किन्तु अँधेरा,
मेरी वृष्टि रुकी क्या अब भी, तुम्हें कहाँ दूँ डेरा ?
प्रिय-पद-मद तो हिरन हुआ, क्यों हिरनी-सी न डरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं ?

हे हेमन्त, कहाँ मिलते हैं दिवस तुम्हारे ऐसे,
जहाँ सहज ही रोम - हर्ष हो, आतप सोना जैसे।
भुज भर भेटे जाने के क्षण बीत चुके अब वैसे,
मलिन गूदड़ी का मैं तुमको लाल बनाऊँ कैसे ?
काज आज कह रहा बिगड़कर किसके लिए सरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं ?

साधु शिशिर, क्या फूल और फल, दल तक तुमने त्यागे,
तुम्हीं बता दो, किन्तु शेष क्या है अब मेरे आगे ?
मुझे काटता है जीवन ही, जन जब बल से भागे,
किन्तु तुम्हारे ही हिम - तप से मधु-माधव हैं जागे।
अपनी आशा के कुछ अंकुर क्यों कर आप चरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं ?

तुम ऋतुराज वसन्त, तुम्हारा यश गाती है कोकिल,
फैलाता है दिग्-दिगन्त में सुयश सुरभि मलयानिल।
देते हैं हिल-मिल द्रुम-वल्ली पुष्प-पाँवड़े खिल-खिल,
पाती हूँ मैं दीन दूर से झलक तुम्हारी झिलमिल।
आत्मरुदन कर और किसीका कैसे हर्ष हरूँ मैं?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं?
काल बली, वहु रूपी है तू, अद्भुत अभिनेता है,
विचलित होता नहीं कहीं भी दारुण दृढ़चेता है।
निखिल सृष्टि-नाटक की नौका जिससे तू खेता है,
उसी प्रवल कर से पल भर में उसे डुबो देता है।
तेरे रहते, कह, क्या अपने हाथों आप मरूँ मैं?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहाँ धरूँ मैं?

१७

जलती धरती पर पैर धरोगे कैसे ?
अंधड़ में पड़कर साँस भरोगे कैसे ?
छाया भी छाया नहीं छोड़ती तरु की ,
प्रिय, तप की तृष्णा तृप्त करोगे कैसे ?

१८

लू, आ तू, लौट लपट, तू ,
उठ दौड़ी कहाँ झपट तू ?
हा हा हू हू हैं तुझमें ,
निज हूक सुना अकपट तू ।

१९

तुम देखो और न देखो,
मुझको न आप अपने को,
मैं तुम्हें देखती हूँ यों
मानो यथार्थ सपने को।
झंझा से झुलस तुम्हारा
तन हुआ झाँवरा सारा।
अर्जुन भी विन्ध्य न जाकर
तुहिनाद्रि गये तपने को,
मैं तुम्हें देखती हूँ यों
मानो यथार्थ सपने को।

२०

कादम्बिनी समय से आई,
उड़कर भाप भूमि को हीं यह आप शून्य में छाई।
देख प्रकृति का माथा जलता
पुरुष हृदय भी क्यों न पिघलता ?
लेप-रूपिणी भरी खेप-सी तू नव जीवन लाई।
कादम्बिनी समय से आई।
क्या मेरे प्रिय भी आवेंगे !
मुझे पूर्व - सा अपनावेंगे ?
और समय कब होगा इसका, यह मैं जान न पाई।
कादम्बिनी समय से आई।

२१

दूत तुझको मैं बनाऊँ, शक्ति वह मुझमें कहाँ ?
किन्तु तू ही सोच, मैं दयनीय कितनी हूँ यहाँ।
टूटती तेरी प्रिया तुझसे बिछुड़ती है जहाँ,
तो निहोरे तू उसीके मेघ, जा कृपया वहाँ।

२२

प्रिय भूले, मैं नहीं पपीहे, जा, सुध उन्हें दिला,
मेरा हृदय नहीं, जाकर तू उनका हृदय हिला।
पिघला सकता है तेरा स्वर उनकी मनःशिला,
तेरी घटा घेर रक्खूंगी, ला तू उन्हें मिला।
नहीं नहीं, वे रुकें, अभी क्या पंथ अपंकिला,
ऊपर से पानी का रेला है सब ओर रिला।
मैं फिर भी उनकी छाया में बैठी अनाविला,
किन्तु मुझे शंका होती है, डूबे न यह इला।

२३

ले तेरी छाँह कदम्ब ,
मिली थी मुग्धा राधा श्याम से ,
दे तू आशिस, अविलम्ब—
मिलूँ मैं भी अपने अभिराम से !

२४

गति हुई परिपूर्ण, यति ले, शिखि, शिखंड समेट,
अब हमारे हंस पावें सरसिजों की भेट।
दयित के अनुकूल हों शत-शत शरत,
और भोग करें उन्हें वे अनवरत।
पित्त की पीड़ा करे इस चित्त का आखेट,
अब हमारे हंस पावें सरसिजों की भेट।

२५

हंस, कहाँ मैं मोती पाऊँ ?
राजकुमारी दमयन्ती ज्यों क्यों कर तुम्हें चुगाऊँ ।
मुझपर तनिक तरस ही खाओ ,
अश्रु - विन्दु ही लेकर जाओ ।
यदि संदेश नहीं तो सुध ही लाओ, मैं बलि जाऊँ ।
हंस कहाँ, मैं मोती पाऊँ ?

२६

फूली सन्ध्या की घटा, धन्य !
तेरी छवि है अनुपम अनन्य ।
फिर भी इस तनु की तृषा हाय !
ज्यों की त्यों है यह तापजन्य ।

२७

निर्मल होकर तू तरंगिणी,
जा अपने सागर की ओर,
मैं अभागिनी पड़ी अगति में,
जिसका कोई ओर न छोर।
बोध किसे मेरी कारा का?
रोध न हो तेरी धारा का।
एक दुखी सो सुखी, इसीमें
काटूँ अपना काल कठोर।
मैं अभागिनी पड़ी अगति में,
जिसका कोई ओर न छोर।

२८

चन्द्राननी निशा किरणों की
कंघी करती जाती है,
सोने की ऊषा सुहाग का
सेंदुर भरती आती है।
इसी बीच कितनी घटनाएँ,
हर्ष - विषाद - भरी रटनाएँ।
प्रकृति पुरातन, नित्य नयापन
जीती मरती पाती है,
सोने की ऊषा सुहाग का
सेंदुर भरती आती है।

२९

मैं आप काँपती हूँ निढाल।
श्रम वृथा तुम्हारा शीत काल!
भरती हूँ ठंढी साँस आप,
यह मेरा अपना पुण्य-पाप।
तुम क्षमा करो, समझो प्रलाप,
तुम से न हटेगा हृदय-ताप।
संतोष करो निज नियम पाल,
श्रम व्यर्थ तुम्हारा शीत काल!

३०

खिल फूल हँसो चिरकाल,
जगत की हँसने की ही बान है,
हँसूगी मैं भी, मधु की आन है,
शव जैसे दाँत निकाल!

३१

हूक इस उर की-सी अविराम,
कूक तू कोकिल, आठों याम।
देख आ उड़कर इतना ही,
उधर भी बौरे हैं क्या आम?

३२

यह राग-रंग का रेला !
सन्ध्या है दिन और रात के मधुर मिलन की वेला !
एक दूसरे में लय पाकर
नये जन्म जीवन में आकर
कर देते हैं साँझ - सबेरा करके हेला - खेला ,
यह राग-रंग का रेला !
हुआ करे होनी - अनहोनी ,
अविरत है, यह आँखमिचौनी ।
रहता नहीं अनेक रूप रच प्रभु भी एक अकेला !
यह राग-रंग का रेला !

३३

तुमने क्या कविता की थी वह "निज रत्नावलि पाऊँ,
तो क्या चाहूँ, जन्म-जन्म में उसपर मैं बलि जाऊँ।"
मैं हँस देती थी यह सुन-सुन,
किन्तु आज यह कैसी गुन-गुन—
"बहुत एक पल, देखूंगा कल, कलि, यदि मैं अलि आऊँ।"
तुमने क्या कविता की थी वह "निज रत्नावलि पाऊँ।"

३७

तुम मुझे ही देखते रहना निरन्तर चाहते थे,
आप निज को देख मेरे कठिन प्राण कराहते थे।
भूल यदि मुझसे हुई तो एक ही,
क्षुब्ध हो, वह था अलुब्ध विवेक ही।
पर कहाँ वह प्यार, जिससे वार-वार सराहते थे?
तुम मुझे ही देखते रहना निरन्तर चाहते थे।
खोज हाय! कहाँ तुम्हारी खीझ की,
छीज की यह छवि न थी यों रीझ की।
थाहते ये दृग उसे थे, तुम जिसे अवगाहते थे।
तुम मुझे ही देखते रहना निरन्तर चाहते थे।

३८

मैं स्वप्न देख जागी,
प्रिय होगये विरागी।
आकर अलग टिके वे देखे जहाँ न कोई,
सन्तोष मानकर भी मैं एक वार रोई,
मृगचर्म और झोली, माला तथा जटाएँ,
पर जो तपी उन्होंने थी क्या वही रसोई?
डर भूख क्यों न भागी?
प्रिय हो गये विरागी।
कुछ पीस-पास ज्यों ही चटनी गई बनाई,
मैं चुप न रह सकी हाँ! सव्यंग्य मुसकराई।
"विस्वाद होगई मैं, चटनी, प्रसाद अब तू।"
सुन चौंक उठ गये वे, ध्वनि 'धन्य धन्य' आई।
मैं मुहँजली अभागी।
प्रिय होगये विरागी।

३६

सन्तों को घर-घर आमिक्षा ,
यौवन, तुम निज रक्त पियो अब कहाँ दूध की भिक्षा ?
मेरे पानी. तू ही रह जा ,
यह भी जीवन ही है, सह जा ।
मेरे रस-दानी विरक्त हैं, पर क्या विना तितिक्षा ?
सन्तों को घर-धर आमिक्षा ।

३७

दोनों को दोनों दूर चूमते जाते,
ये अवनि और आकाश घूमते जाते।
एकाकी इनके बीच कहाँ तुम ? स्वामी !
लो, मान गई मैं, अब न कहूँगी कामी।
मेरे ऊपर है गाज, तले है बाँमी,
पर थमी हुई हूँ यहाँ तुम्हारी थामी।
तुम कहो वहाँ की, जहाँ भूमते जाते ?
ये अवनि और आकाश घूमते जाते।

४२

व्याघ्रचर्म हो वा मृगचर्म,
रक्खा है इनमें क्या मर्म।
जटा-भस्म हैं वेश मात्र,
और कमंडलु एक पात्र,
साधन का उपकरण गात्र।
साध्य नहीं अपना ही शर्म,
व्याघ्रचर्म हो वा मृगचर्म।

४३

क्यों नहीं रहते मुँदे ही पलक ?
आँख मुँदने में तुम्हारी दीखती है झलक।
देखते हो तुम मुझे झुक झाँककर लुक ललक,
चौंकती हूँ और आँसू ढलकते हैं छलक।

४०

मिला अपना ही हमें यहाँ ,
होता प्रभु का दान कहीं वह तो फिर खेद कहाँ ?

यह सच है स्वाधीन हम प्रभु के ही निर्माण ,
अपना जो चाहें करें अकल्याण कल्याण ।
भरे जो जैसा करे जहाँ ,
मिला अपना ही हमें यहाँ ।
यह भी सच, हम आपको अर्पण करदें आप ,
तो प्रभु का होकर बने सब कुछ निज निष्पाप ।
भरा रस ही रस बरस वहाँ ।
मिला अपना ही हमें यहाँ

४१

मन, आर्त्त न हो तुम ऐसे,
क्या जानें, कितने जन कितना सहते हैं क्या कैसे ?
अनुभव करो दूसरों का तो अपना दुःख घटेगा,
नहीं एक के ही सिर माथे यह आकाश फटेगा।
कट जावेंगे कुदिन तुम्हारे भी औरों के जैसे।
मन, आर्त्त न हो तुम ऐसे।

४६

आत्मा परमात्मा की थाती,
वैसी की वैसी वह उसको है लौटाई जाती।
व्रत दृढ़ता में ही पलता है,
किन्तु कंठ-गुण कोमलता है।
सिद्धि-समृद्धि तपःश्रम से है, आते-आते आती,
आत्मा परमात्मा की थाती।

४७

सहन ही जन-बल बड़ा ,
भाग्य से ही भाग में यह धन पड़ा ।
सह सकूँ मैं सब झुकाकर भाल ,
निज धरा सर्वंसहा चिरकाल ।
प्रलय उसके कम्प में विकराल ,
आह ! यह अधिकार भी कितना कड़ा !
सहन ही जन-बल बड़ा ।
यदि न टूटे, साँस खिंचती जाय ,
ध्यान में लग आँख मिंचती जाय ।
सुध बनी तो क्यों न सिंचती जाय ,
आँसुओं से ही भरे रीता घड़ा ।
सहन ही जन-बल बड़ा ।

४४

देश-काल कभी न भूलो और पात्र विशेष,
टुक रुको जन, आगया यदि रोष वा आवेश।
होम करते झुलसता देखा गया है हाथ,
पूर्ण प्रिय उद्देश्य होगा धैर्य के ही साथ।
भटक कौन मरीचिका में पा सकेगा पाथ?
व्यग्र होकर आप मैंने खो दिये निज नाथ।
उभय लोक सधें, यही नर-सिद्धि का संदेश,
टुक रुको जन, आगया यदि रोष वा आवेश।

४५

हम अपने को कभी न भूलें,
धरे रहें निज गुण दृढ़ता से, भले अधर में झूलें।
निन्दा से संकुचित हों न हों, स्तुति से कभी न फूलें,
उठकर निज-पर-शून्य भरें हम, गिरकर प्रभु पद छूलें।

४६

एक नहीं दो-हा तुझे देती हूँ मैं दैव,
तेरी सहृदयता विना वे हैं व्यर्थ सदैव।

... ...

पहले कितनी वस्तुएँ हृदय, तुझे थीं इष्ट,
यह भी क्या लघु लाभ, अब रही एक अवशिष्ट।

... ...

अपनाने में मधुर है सुनने में कटु तथ्य,
हितकारी है सर्वदा स्वादु हो न हो पथ्य।

... ...

अपने अनदिख घाव पर करिए क्या आक्षेप?
पर दुख की अनुभूति का लगा लीजिए लेप,

... ...

जीवन तो जा ही रहा उसकी रोक न टोक,
लोगे उसका हर्ष तो दोगे किसको शोक?

... ...

पर-निन्दा मीठी जिन्हें जी भर भोग लगायँ,
किन्तु कभी कीड़े न उन दाँतों में पड़ जायँ!

... ...

हुआ व्यतीत अतीत तो, भावी अप्रत्यक्ष,
वर्त्तमान ही मुख्य है, रखिए उसपर लक्ष।

... ...

ध्यान धारणा तो धरो सूझेगा कुछ आप,
अकृतकार्यता भी भली, निष्क्रियता है पाप।

४७

मन में आया विश्वास,
जगी थी जो शंका वह सोगई,
व्यथा तो स्वाभाविक-सी होगई,
मैं दूर नहीं, वे पास।

४८

पहले अपने को भूली थी, हुआ मुझे अब चेत,
इसी बीच चुग गईं यहाँ क्या चिड़ियाँ मेरा खेत ?
दूँगी मैं ही उत्तर अपना,
पूरा हो प्रियतम का तपना।
लोक, ठहर टुक रुक तू, पा लूँ मैं उनका संकेत।
पहले अपने को भूली थी, हुआ मुझे अब चेत।

४६

सुना पुनः तू प्रिय-संवाद।
सखि, तेरे मुहँ में घी-शक्कर मेरे मुहँ में स्वाद।
सचमुच ही वह साधु बड़ा था,
पर हितार्थ जो घूम पड़ा था।
मेट गया मेरे जीवन का सबसे बड़ा विषाद।
सुना पुनः तू प्रिय-संवाद।

धन्य! सन्त पद पाकर स्वामी,
हुए राम के ही अनुगामी।
कुछ अपूर्व निर्माण-निरत हैं पाकर गिरा-प्रसाद।
सुना पुनः तू प्रिय-संवाद।

प्रभु की ही माया अब उनको,
सियाराममय है सब उनको।
उद्‌बोधन कर लिया उन्होंने मेरा विकल प्रमाद।
सुना पुनः तू प्रिय-संवाद।

छोड़ गया अपराध मुझे अब,
केवल इतनी साध मुझे अब,
कोसल-काशी के तीर्थों में धो आऊँ अवसाद।
सुना पुनः तू प्रिय-संवाद।

मुझको अब किसका क्या भय है,
और, अहा! यह भी निश्चय है,
पूर्ण करेंगे चित्रकूट आ वे भी निज आह्लाद।
सुना पुनः तू प्रिय-संवाद।

५०

तीर्थ कहीं मिष मात्र न हों हा !
जब मेरा उद्देश्य भिन्न,
साधु हुए स्वामी सकुचाकर
हो सकते हैं और खिन्न।
इधर पिता अपमान न मानें,
मेरा मन भी क्यों हठ ठानें,
अब तो यहीं पड़ी सूखूँ मैं
वल्ली-सी द्रुम-भिन्न छिन्न।
तीर्थ कहीं मिष मात्र न हों हा !
जव मेरा उद्देश्य भिन्न।

५१

बरसे उनके हाथों हेम ,
रामकृपा से साधें उससे वे क्षोणी का क्षेम ।
आगे का भरपूर भीम नद ,
उनके लिए एक लघु गो-पद ।
और सर्प भी रज्जु, देखकर उनका उत्कट प्रेम ।
बरसे उनके हाथों हेम ।

५२

देश वही, पर काल कठिन,
भीतर से बाहर से जनता
छीज रही पल-पल छिन-छिन।
आवे नव-निर्माण तुम्हारा,
फूटे फिर टूटी-सी धारा,
पावें सब नव बल, नव साहस,
फिरें वही फिर निज शुभ दिन।
देश वही, पर काल कठिन।

५३

प्रियतम, तप हो सफल तुम्हारा,
मिलें तुम्हें प्रभु उसी रूप में, लगे तुम्हें जो प्यारा।
दो सबको निज सिद्धि-भाग तुम ?
रक्खो सतियों का सुहाग तुम–
सबको निर्मल करे तुम्हारे मानस की रस-धारा,
प्रियतम, तप हो सफल तुम्हारा।

५४

किया करे इस मांस-पिंड पर अब कोई भी काँव-काँव ,
रत्नावलि तो जीत गई है निज सब कुछ का एक दाँव ।
स्वार्थ भले ही रोया-झींका ,
मैंने अपना नहीं, उन्हींका
देखा शुभ भविष्य, देखेगा इसको घर-घर गाँव-गाँव ।
रत्नावलि तो जीत गई है निज सब कुछ का एक दाँव ।
अब चाहे प्रत्यक्ष नहीं हैं ,
अन्तःस्थित वे सदा यहीं हैं ।
सौ-सौ वार क्षमा पाती हूँ पकड़ एक ही वार पाँव ।
रत्नावलि तो जीत गई है निज सब कुछ का एक दाँव ।

५५

वे जीते, पर क्या मैं हारी ? बलिहारी, बलिहारी !
जन - जन की इच्छा पूरी हो, जैसी हुई हमारी।
उनकी परम्परा अक्षय हो,
और उसीमें मेरा लय हो।
सुन्दर शिव मय, सत्य सदय हो, आवे सबकी वारी।
वे जीते, पर क्या मैं हारी ? बलिहारी, बलिहारी !

श्री मैथिलीशरण गुप्त लिखित—काव्य

जय भारत	७॥)	युद्ध	।॥)
साकेत	५)	चन्द्रहास	१॥)
गुरुकुल	३)	तिलोत्तमा	१॥)
यशोधरा	१॥)	अनघ	१।)
द्वापर	३)	किसान	॥)
सिद्धराज	१।)	शकुन्तला	॥)
हिन्दू	२॥)	नहुष	॥=)
भारत-भारती	२)	विश्व-वेदना	॥)
जयद्रथ-वध	।॥)	काबा और कर्बला	१।)
झंकार	१॥)	कुणाल-गीत	१॥)
पत्रावली	।=)	अर्जन और विसर्जन	।=)
वक-संहार	॥)	वैतालिक	।=)
वन-वैभव	॥)	गुरु तेगबहादुर	।=)
सैरन्ध्री	॥)	शक्ति	।=)
पञ्चवटी	।॥)	रङ्ग में भङ्ग	।=)
अजित	१॥)	विकट भट	।)
हिडिम्बा	।॥)	पृथिवीपुत्र	।॥)
अञ्जलि और अर्घ्य	।॥)	भूमि-भाग	।)
प्रदक्षिणा	॥=)	राजा-प्रजा	।)
विष्णुप्रिया	२॥)	उच्छ्वास	२॥)

लीला २)

अनुवादित काव्य—

मेघनाद-वध	६)
वीराङ्गना	२)
विरहिणी-व्रजाङ्गना	।=)
पलासी का युद्ध	३)
स्वप्न वासवदत्ता	१)
रुबाइयात उमरखैय्याम	१)

श्री सियारामशरण गुप्त के
ग्रन्थों के लिए भी
हमें लिखिए।

प्रबन्धक—
साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

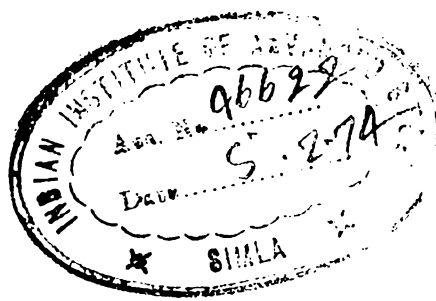

I. I. A. S. LIBRARY

Acc. No. 46622

Call No. _____

Author : Gupta, Maithilisharan

Title : Ratnavali

Borrower's name	Issued on	Returned on
Mr. Hira Ram	18.1.75	20

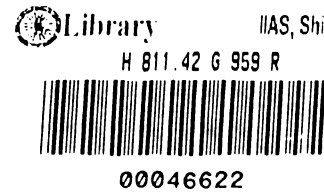
Library IIAS, Shim
H 811.42 G 959 R
00046622